अंक–2, सितम्बर, 2023

पर्यावरण संवाद

प्रकृति एवं देशज संस्कृति के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए

सावन में भी सूखा पड़ा है, पानी का भंडार!
सलैया डाक बंगला के पीछे का तालाब, 29 अगस्त, 2023

आज का सूखा प्राकृतिक आपदा नहीं!

हर सिम्त है चर्चा पानी का

हाय वह खेत भी सूखा पड़ा है
जो खेत था अव्वल धानी का
दुनिया में कुहराम मचा
हर सिम्त है चर्चा पानी का
दुनिया में...

बड़े-बड़े किसान को देखो उनकी हिम्मत टूट गई
धान की पैदावार गई और गेहूं की उम्मीद गई
आलू, बैगन, सेम, टमाटर बिन पानी हो सकते नहीं
जौ, चना वो मूली गाजर बिन पानी बो सकते नहीं
बिन पानी के दुनिया में कोई भी पैदावार नहीं
बिन पानी कुछ पैदा करें ऐसा तो काश्तकार नहीं
कोई भी मेवा, कोई भी नेमत
सभी को है पानी की जरूरत
सभी चीज है पानी से पैदा
सभी है प्यासा पानी का
दुनिया में...

हाय रे दुखिया दुख पे दुख है कहाँ दुख से छुटकारा है
पहले था गर्दिश का मारा अब पानी का मारा है
दर-दर ठोकर खाना ही है और तुम्हें क्या चारा है
रोजी-रोटी कुछ भी नहीं है बड़ा ही दुख का मारा है
सबने देखी ये वार है कैसी? हम दुखियों पे मार है कैसी?
मार किसी दुश्मन की नहीं, ये है तमाचा पानी का।
दुनिया में...

शायर : करामतुल्ला, ग्राम-बांक, पंचायत-दलहा, प्रखंड-मधुपुर
सौजन्य : लुकमान अंसारी

विषय क्रम

संपादक
घनश्याम

संपादक मंडल
उदय
अबरार ताबिन्दा
पूनम रंजन
सीमांत सुधाकर
महेश मिश्रा
तहा सैफुद्दीन
इनामुल हक
साल्गे मार्डी
ऐनी टुडू
श्रावणी
शशि बारला
मति मुर्मू

संवाद सूत्र
मालती कुमारी
अश्विनी महाराणा
संजय समीर एक्का
आनंद मरांडी
कोर्दुला कुजूर
कुंदन कुमार भगत
सीमा
सुशिला हेम्ब्रम
मनीला बास्की

कला संपादक
शेखर

साज-सज्जा
जमील व जावेद

संपादन कार्यालय
पर्यावरण कक्ष "संवाद" 52 बीघा,
मधुपुर, झारखण्ड
की ओर से प्रकाशित

मुख्य कार्यालय
'संवाद', 104/A उर्मिला इन्क्लेव,
पीस रोड, लालपुर, राँची - 834001

घनश्याम द्वारा संपादित एवं प्रकाशित तथा
कैलाश पेपर कन्वर्शन प्रा. लि., राँची द्वारा मुद्रित
सीमित प्रसार

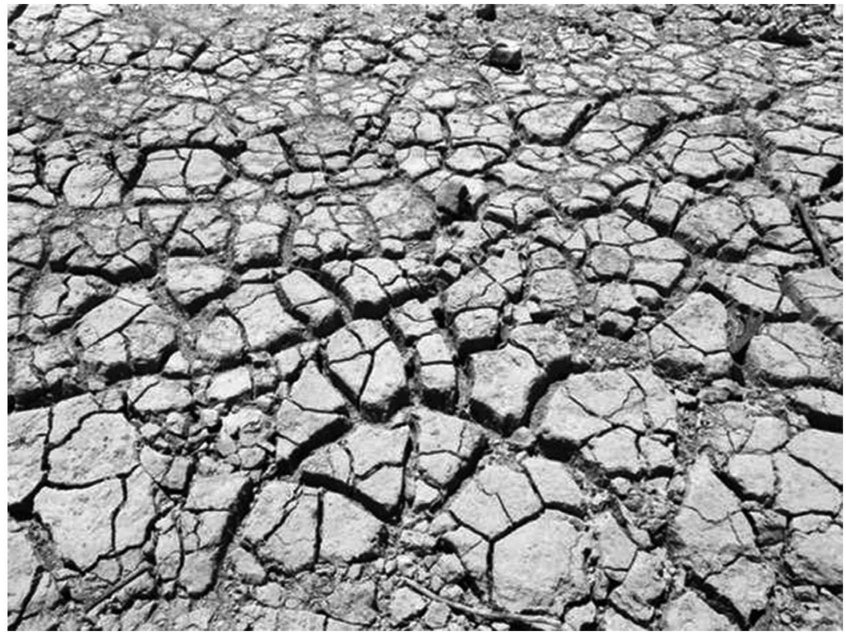

- **व्यक्तित्व**
  अनुपम मिश्र : तालाबों का अनुपम कथावाचक – **राकेश दिवान** 5
- **झारखंड का पर्यावरण**
  सूखा आता नहीं, लाया जाता है - **घनश्याम** 7
- **देश दुनिया का पर्यावरण**
  उरुग्वे जल संकट - **उपेन्द्र शंकर** 9
- **जलवायु संकट**
  'पानी-पानी, अपना पानी' सबका पानी 10
  साभार - जलवायु सकंट : देशज समाधान
- **प्रयोग - धर्मा**
  झारखंड के लीजेंड्स : सिमोन उरांव - **शशि बारला** 12
- **प्रयोग**
  पद्मश्री सिमोन उरांव : बरसात के पानी को सहेजने का देशज वैज्ञानिक - **श्रावणी** 13
- **आदिवासी और पर्यावरण**
  युद्धक हथियारों की दुनिया, पर्यावरण विमर्श और आदिवासी समाज- **अनुज लुगुन** 15
- **सामयिकी**
  122 साल बाद अगस्त सबसे सूखा और गर्म महीना 18
- **खेती-किसानी-बागवानी**
  वर्तमान और भविष्य की सुरक्षा का आधार है जैविक खेती - **आनंद मरांडी** 19
- **कलम, कूची और कैमरा**
  प्यासी धरती! बरसा के अभाव में मरते धान - **जावेद इस्लाम** 20

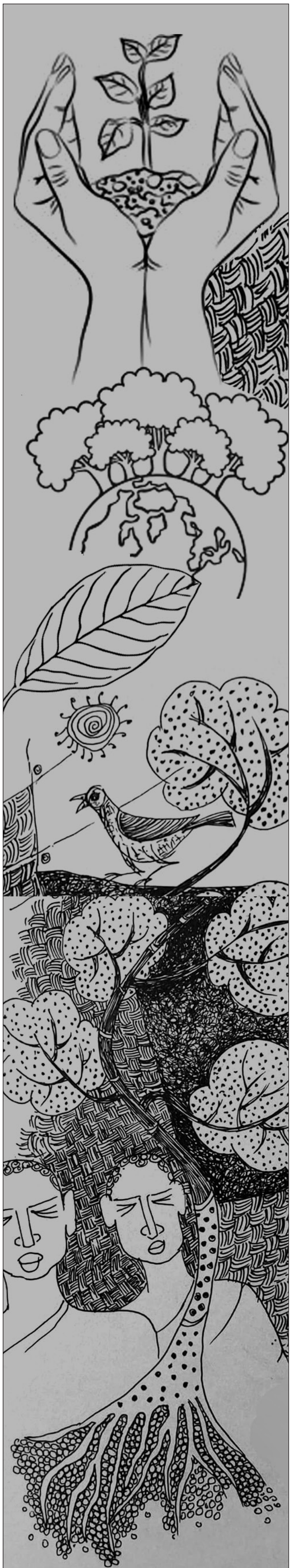

आज का सूखा प्राकृतिक आपदा नहीं!

इस वर्ष भी मानसून ने धोखा दे दिया, ऐसा सभी कह रहे हैं। लेकिन कोई यह नहीं कह रहा है कि मानव समुदाय ने प्रकृति के साथ 'छल' किया है इसलिये मानसून इस छल का बदला ले रहा है। प्रकृति या फिर प्राकृतिक चक्र कभी धोखा नहीं देते। मानव समाज प्रकृति को जीतने के अहंकार में जब प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ने लगता है तब प्रकृति भी बदला लेने को विवश हो जाती है। आज देश के बहुत सारे क्षेत्र भयंकर सूखे की तरफ तेजी से बढ़ रहे हैं। अब तक पूरे झारखंड में 26 अगस्त, 2023 तक 53 प्रतिशत वर्षा कम हुई है। बाद के दिनों जो वर्षा हुई उसके बारे में यह कहा जा सकता है- 'का बरखा जब कृषि सुखानी'। झारखंड और बिहार के कई जिलों में बिचड़े तक नहीं डाले गये हैं और जो डाले गए वह वर्षा के इंतजार में बूढ़े हो गए।

आश्चर्य की बात तो यह है कि इतनी तबाही के बाद भी दुनिया के प्रभुवर्ग और कथित विकास के वाहक यह क्यों नहीं समझ पा रहे हैं कि इस स्थिति के लिए प्रकृति जिम्मेदार नहीं है। आज का सूखा 'प्राकृतिक आपदा' कतई नहीं है। आसन्न सूखा जो अगले कुछ महीनों में अकाल में तबदील हो सकता है, मानव सृजित और व्यवस्था-जनित है। सत्ता और संपति के अहंकार में चूर नीति निर्याताओं ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के ख्याल से जो विजय यात्रा शुरू की थी उसका घर्र-घर्र नाद अब थम गया है।

धरती तेजी से तप रही है और पानी हमारे हाथ से निकल कर पाताल में जा रहा है क्योंकि पानी सहेजने के सभी परंपरागत साधनों पर कंक्रीट के जंगल हमने कुकुरमुत्ते की तरह खड़े कर दिये हैं। प्रकृति के जल-चक्र को सहेजने वाला प्राकृतिक जंगल काटकर हमने गगनचुंबी अट्टलिकायें खड़ी की हैं। लाखों ऐसे कारखानें और खदानों को विकसित कर दिया गया जिससे कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा वायुमंडल में बढ़ती चली जा रही है। करोड़ों वातानुकूलित संयंत्रों के कारण क्लोरो-फलोरो कार्बन के चलते गर्म हो रहे वातावरण ने मानसून को पीछे धकेल दिया है। प्राकृतिक संतुलन बिगड़ता चला जा रहा है। साफ है इस परिस्थिति के कारण ही सूखा एक आपदा बन कर आया है और सूखा-प्रवण क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। इसलिए जरूरी है कि सूखे पर विचार करते समय तात्कालिक उपाय के अलावे दीर्घकालिक समाधान पर भी चर्चा हो। इसके बिना रास्ता निकलना मुश्किल है।

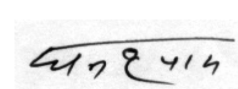

अनुपम मिश्र : तालाबों का अनुपम कथावाचक

अनुपम! उन्होंने अपने नाम को सार्थक कर दिया। जैसा उनका नाम था, व्यक्तित्व भी उतना ही सुन्दर और कृतित्व भी। अपने पिता, हिन्दी के ख्यात साहित्यकार कवि भवानीप्रसाद मिश्र से उन्हें जो चीज़ विरासत में मिली थी, वह थी भाषा। उनके जैसी भाषा विरलों के पास होती है। यही वजह है, उनके द्वारा तालाबों पर लिखी गई किताबें किसी फिक्शन की तरह लगती हैं। अगर एक बार पढ़ना शुरू कर दो तो अन्त तक छोड़ने का मन नहीं करता। उन्होंने तालाबों की कहानी इस तरह की भाषा में पिरोई है कि वह हर वर्ग को समझ तो आती ही है, उस दौर के समाज की उस समृद्ध विरासत से भी परिचित कराती है, जो हमारे पूर्वजों ने बहुत सोच-समझकर गढ़ी थी। ख्यात साहित्यकार अशोक वाजपेयी का भी यही मानना है कि अनुपम जैसी भाषा बहुत कम लोगों की होती है, इसलिए वह तथा अन्य साहित्यकार अकसर अनुपम को भी साहित्यिक आयोजनों में आग्रहपूर्वक ले जाते थे, जबकि उनका साहित्य से इस तरह का कोई नाता नहीं था।

अनुपम का जन्म वर्धा में हुआ था। उस समय उनके पिता भवानीप्रसाद मिश्र गाँधीजी के वर्धा स्थित आश्रम में शिक्षक और प्राचार्य के रूप में कुछ समय तक कार्यरत थे। इसके बाद वह अन्य शहरों में रहे। वहाँ से वह अक्सर अपने पिता के जन्मस्थान होशंगाबाद आते रहते थे। यहाँ उनके पिता को जानने वाले और उनके कई साथी रहा करते थे। उस दौरान हुआ औपचारिक परिचय धीरे-धीरे कब गहरी मित्रता में बदल गया, पता ही नहीं चला। वह अपनी पढ़ाई पूरी कर दिल्ली के गाँधी प्रतिष्ठान से जुड़ गए, लेकिन उसके बाद भी उनका होशंगाबाद आना-जाना चलता रहा। अनुपम के कारण हमारा भी दिल्ली जाना शुरू हो गया।

इसी दौरान सन् 1973-74 में गाँधीवादी व विचारक बनवारी लाल चौधरी के निर्देशन में हमने तवा बाँध के कारण उपजी समस्याओं को लेकर होशंगाबाद में 'मिट्टी बचाओ अभियान' शुरू किया था। हम जो भी काम करते थे, उसके प्रचार-प्रसार का जिम्मा अनुपम के पास था। इस दौरान अनुपम और दिलीप चिंचालकर के साथ मिलकर इसी नाम से किताब लिखी, जो उनकी पहली किताब थी। इस आन्दोलन पर उनका लिखा एक आलेख उस समय की बेहद प्रतिष्ठित पत्रिका 'दिनमान' में छपा था।

इसके बाद हमने मिलकर कई काम किए। जब उत्तराखंड में पेड़ों को बचाने के लिए 'चिपको आन्दोलन' चलाया गया, तो अनुपम ने उस पर भी एक किताब लिखी। अनुपम का मानना था

कि पानी और जंगल का गहरा सम्बन्ध है। अगर जंगल खत्म होगा तो इसका असर पानी पर भी पड़ेगा। इसके बाद एक बार अनुपम किसी काम से जब राजस्थान गए तो वहाँ पानी को लेकर काम कर रहे 'तरुण भारत संघ' से उनका परिचय हुआ। इसके बाद उन्होंने इस संगठन के साथ मिलकर करीब 10 साल काम किया। इस काम के लिए उन्हें के. के. बिड़ला फाउंडेशन की फेलोशिप भी मिली। इस दौरान उन्होंने जो किताब लिखी, वह थी 'राजस्थान की रजत बूँदें।' यह बहुत अद्भुत है। इसके बाद हमने और भी जगहों पर कुछ करने के लिए सोचा। अनुपम ने कहा कि सब अपने-अपने क्षेत्र में कुछ करो ।

अनुपम ने तालाबों पर किताब लिखने का सोचा और इसके लिए मैंने मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के कई क्षेत्रों में जाकर जानकारी और आँकड़े एकत्र किए। कई और दोस्तों ने भी इसमें योगदान दिया और इसके बाद अनुपम को एक और अनुपम-अद्भुत कृति आई 'आज भी खरे हैं तालाब'। दुनिया में शायद ही इस तरह की कोई और कृति होगी। इस किताब ने बिक्री के मामले में कई रिकॉर्ड भी कायम किए है। जब इस किताब की एक लाख प्रतियां बिकीं, तो इसके बारे में वरिष्ठ पत्रकार अरविन्द मोहन ने एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था- 'यह रामचरितमानस नहीं है, लेकिन उससे कम भी नहीं है।'

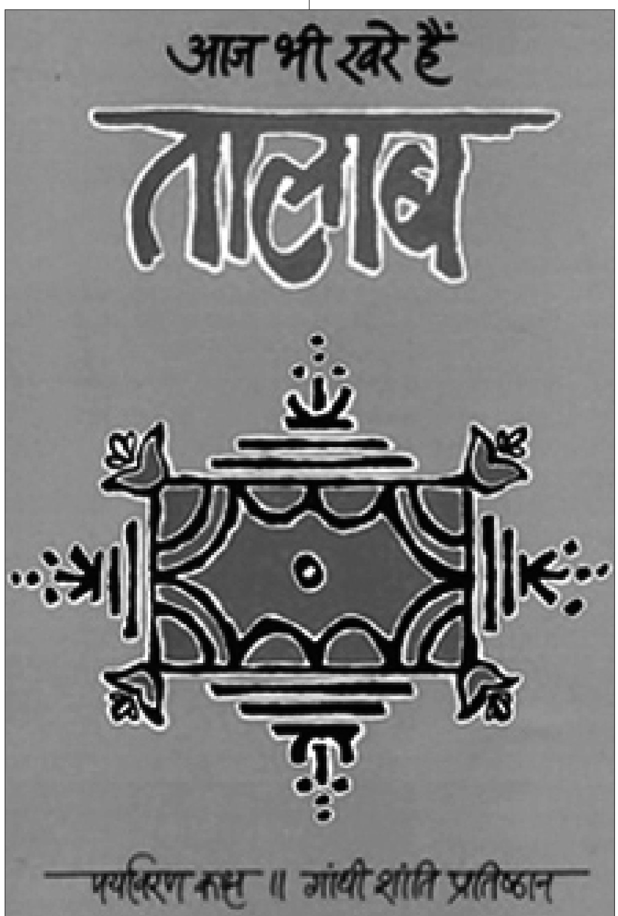

यह किताब अपने कन्टेंट, विषय, रिसर्च से लेकर प्रस्तुतीकरण तक हर मायने में उत्कृष्ट है। इसका कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। पैरिस यूनिवर्सिटी में भी इसे पढ़ाया गया। वहीं मोरक्को के शाह को तो यह इतनी पसन्द आई कि इस किताब से प्रेरित होकर वहाँ तालाब बनाने का ही काम शुरू कर दिया गया। इस किताब की एक और खास बात यह है कि अनुपम इसका नाम यह भी रख सकते थे कि तालाब बदहाल है या वे खराब स्थिति में हैं, लेकिन अनुपम का मानना था कि ये तालाब खत्म नहीं हुए हैं, वरन् आज भी हम इनकी ही वजह से जिन्दा हैं। इन तालाबों का अस्तित्व आज भी है। वह कहते थे, बात चाहे भोपाल की हो या राजस्थान के अलग-अलग शहरों-कस्बों की, हमने आज बहुत से नए जलस्रोत बना लिए हैं, लेकिन बुनियादी जरूरत आज भी हमारे पूर्वजों की विरासत से ही पूरी हो रही है।

पानी को लेकर अनुपम का मानना था कि इसे सहेजने के लिए सदियों से समाज के अपने ताने-बाने हैं, इसलिए हम जिन्दा हैं। आज के समाज को उसका सम्मान करना चाहिए। उसको संवारिए, बिगाड़िए मत। भोपाल को विरासत में इतना बड़ा तालाब मिला। हजार-बारह सौ साल पुराना यह तालाब आज भी हमें पानी पिला रहा है और हमने क्या किया। सारे शहर के गटरों का पानी उसमें छोड़ना शुरू कर दिया। अगर हम इस विरासत का सम्मान नहीं कर सकते, तो अपमानित भी न करें। अगर हम अपने बुज़ुर्गों पूर्वजों का सम्मान करना भूल जाएँगे, तो उसका खामियाजा भुगतना पड़ेगा।

22 दिसम्बर को अनुपम का जन्मदिन आने वाला था, लेकिन इससे पहले ही वे हम सबसे दूर अनन्त यात्रा पर निकल गए। उनके जाने से समाज में दो तरह का शून्य बना है। एक- वह उन लोगों में से थे, जिन्होंने कभी अपने काम का श्रेय नहीं लिया। वह कहते थे, हम तो क्लर्क या बाबू आदमी है, समाज में जो अच्छा है, केवल उसे लिखने का काम कर रहे हैं। वह हर बात का श्रेय समाज और सामूहिकता को देते थे। दूसरा शून्य यह है कि हमारे समाज को अभी अनुपम की कम से कम 20 साल और जरूरत थी; क्योंकि जो काम उन्होंने शुरू किया था, अब जाकर समाज, सरकारों, नीति निर्माताओं और मीडिया ने समझना शुरू किया है। ऐसे समय में अनुपम जैसे लोगों की ज्यादा जरुरत थी, ताकि उनकी पहल मूर्त रूप ले सके।

- राकेश दीवान

'ज्ञानोदय' से साभार

श्री राकेश दीवान देश का जाने माने पर्यावरण एक्टिविस्ट और सर्वोदय प्रेस सर्विस के संपादक हैं।

"सूखा आता नहीं, लाया जाता है"

अगर मैं कहूं कि सूखा आता नहीं लाया जाता है तो आप चौंकेगे या फिर आप कहेंगे कि यह गलत बात है। सूखा आता भी है और यह लाया भी जाता है। परन्तु आज का सूखा प्राकृतिक या दैवीय आपदा नहीं है। मैं या मुझ जैसे सोचने वाले लाखों लोग यह मानते हैं कि यह जो सूखा, अपना देश या झारखंड झेल रहा है, यह "मेन मेड" है या यो कहें कि यह व्यवस्था जन्य सूखा है जिसे बड़ी सुनियोजित ढंग से लाया गया है। इसकी पूरी योजना अंग्रेजों ने अपने शासन काल में बनायी थी और उसी नक्शे कदम पर आजाद भारत की अपनी सरकारें भी चलती रहीं। समय पर बारिश नहीं होने या औसतन कम बारिश होने तथा फसलों की बोआई में दो तिहाई गिरावट होने की स्थिति को सूखा की या सुखाड़ की स्थिति कही जाती है। इस पैमाने पर देखें कुछ दशक पहले तक तो कम समय ही सूखा का काल दिखता है। लेकिन आज स्थिति इतनी विकट क्यों होती जा रही है। इसका बड़ा कारण है कि हमने पिछले कुछ वर्षो में सूखा रोधक फसलों के बदले ऐसी हाइब्रिड फसलों को अपनाया जो कम बारिश को बर्दाश्त नहीं कर पाती। तुरंत सूख जाती है। देशज बीज जिसमें यह गुण था हमने उसको पिछड़ा साबित कर उसे समाप्त करने का कोई कोर कसर नहीं छोड़ा। लातूर से लेकर बुंदेलखंड इसका ताजा उदाहरण है कि पानी की किल्लत भी सूखे का बड़ा कारण है। पानी की किल्लत को दो तरह से देखा जा सकता है- पहला बारिश की कमी के कारण सतही - जल का अभाव दूसरा भूगर्भीय जल में बेतहाशा कमी। इन दोनों कारणों के लिए व्यवस्था जिम्मेदार है। पानी के संग्रहण की परंपरागत व्यवस्था को सरकारों ने नकारा और सिचाई की ऐसी व्यवस्था की जिसके लिये समृद्ध जंगल उजाड़ दिये गये। जंगल के उजड़ने के कई दुष्परिणाम सामने आये। पानी पुनर्भरण की प्रक्रिया कमजोर हुई और भूगर्भीय जल तेजी से नीचे भागता गया। जंगल समाप्त होने से प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया शिथिल पड़ती गयी और बादल बनने और उसको जमीन पर खींचने की चक्रीय पद्धति तहस नहस हो गयी। परिणामत: प्रकृति में विराजमान जलचक्र कमजोर पड़ा। इस तरह और कई मानव निर्मित कारण हैं जिसने सूखे को बुलाया यानी हमने सूखे को बुलाया।

जल संकट और झारखंड

इस वर्ष अप्रैल शुरू होते ही झारखंड भयंकर जल संकट से जूझने लगा। हाल में अखबार का यह मुख्य हेडिंग था। इससे समझा जा सकता है कि स्थिति कितनी गंभीर है। कुछ दिन पहले मैंने जल प्रबंधन की अनियमितता के संबंध में बात की थी। झारखंड एक ऐसा राज्य है जहां थोड़ी समझदारी से सरकार, प्रशासन और टेक्नोक्रेट काम लें तो जल समस्या का समाधान आसानी से ढूंढा जा सकता है। लेकिन इसके लिए इन्हें अपने अहंकार, अपने तात्कालिक स्वार्थ और अपनी विश्वविद्यालयीय बुद्धि से अलग हटकर जनता की बुद्धि, लोक ज्ञान और जन तकनीकी पर भरोसा करना पड़ेगा। झारखंड के पानी का सीधा संबंध जंगल, जोरिया (जल स्रोत) और बरसात के पानी से है। झारखंड में अमूमन 12-13 सौ मिली मीटर वर्षा होती है, जिसके पानी को संग्रहित कर पानी सी समस्या दूर की जा सकती है। अब तक पानी को हमारे पूर्वजों ने प्रकृति को ध्यान में रख कर इसी प्रकार संजोया है।

झारखंड में पानी बचाने की पहली शर्त होगी प्राकृतिक जंगल को बचाना और बढ़ाना। आजादी के बाद से इस पर ध्यान दिया नहीं गया। कथित विकास के नाम पर सरकारों ने जंगल का अंधाधुंध दोहन किया परिणामस्वरूप अब यहाँ सघन जंगल प्रायः नष्ट हो गये हैं। आज भी खान, खनिज और शहरीकरण को बढ़ावा देने के नाम पर पहाड़ों, पहाड़ियों और जंगल को समूल नष्ट किया जा रहा है। झारखंड जैसे प्रदेश का जियो क्लाइमेट ऐसा है जिसमें पहाड़ियों का बड़ा योगदान है और इन पहाड़ियों से गुथे हैं- जल, जंगल और उपजाऊ जमीन। विनाशकारी विकास ने दोनों को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। परिणामतः

बरसात का पानी तेजी से बह कर जोरिया और नदियों के माध्यम से समुद्र में समा जाता है दूसरी तरफ, हैंड पम्प और डीप बोरिंग ने जल स्तर को नीचे धकेल दिया है। फलतः आज यहां जलस्तर 15-20 मीटर नीचे गया है और पानी के लिए हाहाकार मचा है। यह अजीब विडंबना है कि अदालतों को इसके हल के लिए हस्तक्षेप करना पड़ रहा है। सरकारों की इससे बड़ी विफलता क्या हो सकती है?

झारखंड में जल संकट समाधान के कुछ उपाय

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है कि झारखंड की जियो क्लाइमेटिक स्थिति को ध्यान में रख कर अगर बढ़ना हो तो यहाँ के प्राकृतिक जंगल और उससे गुथे पहाड़ और पहाड़ियों पर विशेष ध्यान देना होगा। इसके अलावे यहां की भू-आकृति (टोपोग्राफी) को मद्देनजर रखते हुए पानी के प्रबंधन को जमीन पर उतारना होगा इसके लिए निम्न उपाय कम से कम करने होंगे -

- प्राकृतिक जंगल, जो अब तक बचे हुए हैं, उसकी रक्षा और प्रबंधन की सारी जिम्मेदारी सरकार ग्राम सभा को दे संभव हो तो सरकार पूरा जंगल गांव को सौंप दे। जंगल की जो जमीन बंजर पड़ी है, उसपर समाज उपयोगी पेड़ लगाने की पूरी व्यवस्था सरकार ग्राम सभा के माध्यम से करे। सभी नदियों का कैचमेंट ट्रीटमेंट हो। गाद निकाले जायें और उदगम से लेकर संगम तक परंपरागत पेड़ लगाये जायें।
- डीप बोरिंग और अन्य भूगर्भीय जल दोहन पर तुरंत रोक लगायी जाये।
- पुराने तालाबों, आहरों और पैन तुरंत मरम्मत कराये जाएं इसकी सम्पूर्ण जिम्मेदारी ग्राम सभा को दी जाये।
- पुराने कुएं और चापाकल की तुरंत मरम्मती हो और बरसात के समय बह जाने वाले पानी के संग्रहण के लिए रेनवाटर हार्वेस्टिंग सिस्टम बनाये जाएँ और इसके लिये समुदाय को प्रशिक्षित किया जाये। इस काम के लिए गैर सरकारी संगठनों, सामुदायिक संगठनों की मदद ली जाये।
- विकास की ऐसी परियोजनाओं पर तुरंत रोक लगे जो जंगल और जलसोत को मारती हो और नदियों को बर्बाद करती हो।
- ऐसे डोभा, चुआं और चेक डैम का निर्माण हो, जो वर्षा जल को संग्रहित कर सके।
- खेती की मिश्रित पद्धति विकसित हो और कम पानी पीने वाली फसलों को प्रोत्साहित किया जाये।

ऊपर बताये गये उपायों में कुछ तात्कालिक और कुछ दीर्घकालिक हैं, जिसपर समय और साधन की उपलब्धता के आधार पर कदम उठाये जा सकते हैं। लेकिन उक्त उपायों के लिए जिस दृष्टि, दृढ़ विश्वास और राजनैतिक सूझबूझ की यहाँ जरूरत है, इसको कैसे लाया जाये यह महत्त्वपूर्ण सवाल है। मिलकर काम करें तो किसी सरकार के एक कार्यकाल में जल संकट पर फतह पाया जा सकता है। यह बात विश्वास पूर्वक इसलिए कही जा सकती है क्योंकि अभी भी झारखंडी समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक तानाबाना बचा हुआ है। सरकार और उसके नुमाइन्दे इस पर गंभीरता से सोचेंगे हमें ऐसी उम्मीद है।

- घनश्याम

उरुग्वे जल संकट : सरकारी नीतियाँ जिम्मेवार

उरुग्वे के पर्यावरणविदों का कहना है कि मोंटेवीडियो महानगरीय क्षेत्र में आने वाला जल संकट न केवल जलवायु परिवर्तन के कारण हुए सूखे के कारण है, बल्कि निर्यात आधारित कृषि-औद्योगिक गतिविधियों द्वारा पानी के अत्यधिक उपयोग का परिणाम भी है।

जल और जीवन की रक्षा के लिए राष्ट्रीय आयोग के सदस्य कारमेन सोसा, जिन्होंने 2004 में पीने के पानी तक पहुंच को एक मौलिक अधिकार बनाने के लिए संविधान में संशोधन करने के संघर्ष का नेतृत्व किया था, ने कहा कि "हमारे जल संसाधनों को लूट लिया गया है। और यह काम, कृषि व्यवसाय और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का है। 2004 के बाद से, सिद्धांत के तौर पर मानव उपभोग के लिए पानी को अन्य उपयोगों की तुलना में प्राथमिकता दी गई, लेकिन व्यवहार में ऐसा कभी नहीं हुआ।" उन्होंने बताया, "चावल उद्योग आबादी की तुलना में चार गुना अधिक पानी का, लकड़ी का गूदा 10 गुना, सोयाबीन की खेती 17 गुना और मांस के लिए पशुधन का फार्म पद्धति से पालन 20 गुना अधिक पानी की खपत करता है।"

"सभी उद्यम नदियों से पानी लेते हैं। हमारे पास पीने के लिए पानी नहीं है लेकिन उद्योगों के पास अभी भी पानी है, उरुग्वे के सभी जलभृतों पर सात लुगदी मिलों ने कब्जा कर लिया है। जो राजनीतिक निर्णय लिए गए, वे 2004 में स्थापित निर्णयों के विपरीत हैं," उन्होंने आलोचना करते हुए कहा। सूखे ने हमारे आर्थिक मॉडल की समस्याओं को स्पष्ट रूप से दर्शाया है। हम संसाधनों को कुछ हाथों में केंद्रित नहीं कर सकते," सोसा ने कहा। मानव उपभोग के लिए पानी लाभ से पहले आना चाहिए।

उरुग्वे सेलूलोज़ (लुगदी) का एक महत्वपूर्ण उत्पादक है, जिसके उत्पादन में बड़ी मात्रा में पानी की खपत होती है। रिपोर्टों के अनुसार, 19 कंपनियाँ देश के सभी निवासियों की तुलना में अधिक पानी का उपयोग करती हैं, उनमें सेलूलोज़ उत्पादक कंपनियाँ भी शामिल हैं। अप्रैल में, दुनिया की सबसे बड़ी लुगदी मिल का संचालन उरुग्वे में शुरू हुआ, जो देश में ऐसी तीसरी मिल थी।

द गार्जियन की रिपोर्ट के अनुसार, उरुग्वे में जल आपूर्ति की समस्याओं पर आक्रोश के बीच, एक गूगल डेटा सेंटर बनाने की योजना की खबर आयी, जो प्रतिदिन लाखों लीटर पानी का उपयोग करेगा। इस खबर ने देश में ज्यादा गुस्सा पैदा कर दिया है। दिग्गज कंपनी ने दक्षिणी उरुग्वे में कैनेलोन्स विभाग में डेटा सेंटर बनाने के लिए 29 हेक्टेयर जमीन खरीदी है। ब्रिटिश अखबार के अनुसार, केंद्र अपने सर्वर को ठंडा करने के लिए प्रतिदिन 7.6 मिलियन लीटर पानी का उपयोग करेगा, जो एक आकलन के अनुसार, करीब 55,000 लोगों के घरेलू दैनिक उपयोग के बराबर है।

गूगल का आगामी डेटा सेंटर एकमात्र परियोजना नहीं है, जो विवादास्पद है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न आकार के कम से कम 486 निजी जलाशय हैं जो निर्यात आधारित कृषि व्यवसाय के लिए नदियों और नालों से पानी निकालते हैं।

इस क्षेत्र के विभिन्न देशों जैसे अर्जेंटीना (जो कि पहले से ही पानी की कमी से जूझ रहा है), वेनेज़ुएला और ब्राज़ील ने स्थिति की विकरालता को कम करने में मदद के लिए हाल के हफ्तों में उरुग्वे को अपना समर्थन देने की पेशकश की है।

लेकिन यदि देश को स्थायी समाधान ढूंढना है तो इसे अपनी नीतियों को बदलना होगा। आशावादी होने का एक कारण है - जनमत संग्रह, जिसमें 60% से अधिक आबादी द्वारा अनुमोदित 2004 के संवैधानिक सुधारों में जल आपूर्ति के सार्वजनिक प्रबंधन को भी शामिल किया गया था, जो 2004 से पहले तक बड़े पैमाने पर पीने के पानी और स्वच्छता सेवाओं के निजीकरण से प्रेरित थे।

नागरिक समाज और राजनीति-सामाजिक काम करने वाले समूहों के गठबंधन , राष्ट्रीय जल और जीवन रक्षा आयोग ने लाभ-संचालित जल प्रबंधन और लालच को नागरिकों के अधिकारों के लिए एक बुनियादी खतरे के रूप में पहचाना।

ऐसे देश में जिसे दक्षिण अमेरिका में सबसे लोकतांत्रिक देश के रूप में स्थान दिया गया है, नागरिक समाज फिर से समाधान खोजने में एक आवश्यक भूमिका निभा सकता है।

उरुग्वे का संकट आज अधिक से अधिक देशों के लिए चेतावनी है। वे इसको देख जान कर सीख सकते हैं कि किसी क्षेत्र में लिखित रूप में, मौलिक अधिकार पा जाना, दे देना ही समस्याओं को हल नहीं कर सकता जबतक कि उससे सम्बंधित अन्य क्षेत्रों की नीतियों में उसके अनुरूप बदलाव नहीं किए जाएँ।

- उपेन्द्र शंकर

सन्दर्भ- पीपल्स डिस्पेच, गार्जियन, कोपरनिकस

'पानी-पानी, अपना पानी' सबका पानी

पानी-पानी/बच्चा-बच्चा/हिंदुस्तानी/मांग रहा है/पानी-पानी/अपना पानी/मांग रहा है हिंदुस्तानी...

'जल'+'वायु' संकट के इस दौर में रघुवीर सहाय की कविता की ये पक्तियां हिंदुस्तान का सच बयां करती हैं। करीब 30 साल पहले मोहनपुर, देवघर (झारखंड) के ग्रामवासियों के बीच सहायजी ने यह कविता सुनाई थी। खूब तालियां बजी थीं। कविता में 'अपना पानी...' पंक्ति पर तो गांववासी झूम उठे थे। वे ताली बजाते-बजाते थम कर अपनी आंखें पोंछने लगते थे। रह-रहकर उनकी आंखों का पानी छलक उठता था।

कविता-पाठ के बाद गांववाले सहाय जी को घेरकर बैठ गए। वे देर तक उनसे बतियाते रहे-अपने गांव घर की बातें। समाज की बातें। अपना पानी, जो घर गांव-समाज को जोड़ता था, उसके घटने और बिछुड़ने की बातें पानी के छिनने-छीनने की बातें। देर रात जब उठे तो कविता जल में नहाये ग्रामवासियों ने जाना कि जो कुछ वे बतिया रहे थे, उसे सहाय जी ने एक शब्द में बांधा- 'पानी को बरतना'। बरसात का पानी, ठहरा पानी, बहता पानी। जैसा बरतो, वैसा पानी पाओगे। अपना बनके प्यास बुझायेगा या पराया होके प्यास बढ़ायेगा। यही तो कहा था रघुवीर बाबू ने।

आज पूरी दुनिया में पानी को लेकर बहस छिड़ी है। कई सवाल, सवाल बन कर गूंज रहे हैं कि पानी पर किसका अधिकार है? कि क्या इस प्रकृति प्रदत्त तत्व पर राज्य का अधिकार है? कि क्या जल वैयक्तिक संपत्ति है? क्या बरसे - ठहरे बहते पानी को निजी संपत्ति बनाया जा सकता है? पानी का निजीकरण, व्यवसायीकरण, पानी को उत्पाद के रूप में बेचने की नीति और प्रक्रिया मानव कल्याण और सामाजिक- आर्थिक विकास के किस चिंतन का परिणाम है? अगर ध्यान से देखें तो इन सारे सवालों का केंद्रीय सूत्र है- बरतना। पानी को बरतने के विविध सूत्रों को पहचाने बिना किसी भी सवाल का सही जवाब संभव नहीं है।

लेकिन आजकल बहस का शोर इतना तेज है कि हर समाज और देश में आम जन के कुछ सहज-सरल सवाल गुम हैं- बेमानी हो गए हैं- कि आखिर उक्त सवाल क्यों पैदा हुए? किन बुनियादी समस्याओं की उपज हैं उक्त सवाल? ये सवाल किस सभ्यता और किस संस्कृति की देन है? क्या इसका मायने यह है कि उक्त बहस पानी को बरतने के सूत्रों की पहचान करने की कोशिश का हिस्सा नहीं है? 21वीं सदी में उक्त सवालों का शिकंजा इतना व्यापक और मजबूत होता जा रहा है कि उसमें दुनिया के तमाम देश और समाज फंसते जा रहे हैं। इसमें वे देश और समाज शामिल हैं जिनके प्रभुवर्ग विकास की आधुनिक अवधारणा और भूमंडलीकरण (ग्लोबलाइजेशन) की प्रक्रिया के जनक एवं हिमायती हैं। वस्तुतः वे ही ये सवाल पैदा कर रहे हैं ताकि उनके लक्ष्य और इरादों को ही सही समाधान मान लिया जाये। वे चाहते हैं कि उक्त सवालों में फंस कर देश-समाज का आम इंसान पानी के प्रति अब तक विकसित विविध सांस्कृतिक दृष्टि और पानी को बरतने की व्यावहारिक समझ खो दे।

सवालों का जाल बुनने और फंसने-फंसाने के इस दृश्य का सर्वथा नया पहलू यह है कि जो शिकारी है और सवालों का जाल बुन रहा है, वह खुद इसमें फंसा नजर आता है। वह चतुर है, बलवान है, इसलिए जाहिर है कि वह अपने बनाये जाल में फंसेगा नहीं। फिर भी फंसा नजर आता है, तो इसका मतलब है कि यह दूसरों को फंसाने की उसकी चाल है। शिकारी अपने जाल में खुद फंसा दिखता है ताकि किसी भी भोले-भाले शिकार के मन में डर या संशय न पैदा हो। शिकार यह देखकर आश्वस्त रहे कि जब शिकारी भी जाल के अंदर है तो फिर इसे फंसना क्यों माना जाये और खुद फंसना कबूल कर ले। अब तो सवालों का जाल इस कदर उलझ गया है कि इसमें कौन शिकारी है और कौन शिकार, यह पहचानना मुश्किल है।

सचमुच इस बहस में शामिल अधिसंख्य प्रभुओं की नजर में पानी महज एक संसाधन है। ऐसा संसाधन जो जरूरी तो है लेकिन दुर्लभ और सीमित है। यह स्थिति बाजार के अन्य उत्पादों की तरह पानी को भी उत्पाद के दायरे में बांधने को मजबूर करती है। बेचने खरीदने को मजबूर करती है। इसलिए सीमित स्टॉक और बढ़ती मांग की स्थिति में अन्य उत्पादों पर बाजार का जो नियम लागू होता है वही पानी पर भी लागू होना चाहिए। पानी का व्यवसायीकरण ही समस्या का समाधान है और इसके लिए पानी को सरकारीकरण और निजीकरण के दायरे में लाना होगा।

दूसरी ओर इस बहस में सिर्फ श्रोता दर्शक बने रहने को मजबूर नागरिकों की नजर में पानी से जीवन है- पानी ही जीवन है, अमृत है, इसलिए वह मानता है कि पानी महज संसाधन नहीं हो सकता। यह तो धरोहर है। धरोहर को सिर्फ तात्कालिक उपयोगिता और दाम-लाभ के दायरे में नहीं रखा जा सकता। जो लोग पानी

को संसाधन मानते हैं, वे इसे उपयोगिता पर अवलंबित खरीद-बिक्री की वस्तु बना देते हैं। तभी बाजार और बाजार को संचालित करने वाली ताकतें पानी को नियंत्रित करने लगती हैं। और, तब न सिर्फ बच्चे पानी के लिए तरसने लगते हैं बल्कि धरती भी प्यासी रह जाती है। लेकिन जब हम पानी को धरोहर के रूप में देखते हैं तो उसके उपयोग के क्रम में ही उसके संरक्षण और संवर्द्धन के वैसे सारे उपाय करते हैं जैसे बच्चे को सहेजने के लिए माँ करती है। तभी पानी और प्राणी का रिश्ता जीवंत होता है। प्रकृति सुजलाम-सुफलाम बनती है।

इस दूसरे दृष्टिकोण के आलोक में विश्वव्यापी बहस में यह सवाल उठना चाहिए कि पानी संसाधन है या धरोहर?

हमारे पूर्वजों ने पानी को धरोहर के रूप में देखा है। धरोहर यानी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपने, सजाने और संवारने का प्राकृतिक उपादान। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने प्रकृति प्रदत्त पानी के संग्रहण की विभिन्न विधाओं और तकनीकों का इस्तेमाल किया था। इन्हीं विधाओं और तकनीकों में से एक है - तालाब । तालाब यानी पानी को बरतने का ऐसा उपाय जो धरोहर को प्रकृति से अलग नहीं करे, उसकी नित नवीकृत होने की प्राकृतिक गुण-क्षमता को नष्ट न होने दे।

तालाब पानी के भंडारण की व्यवस्था मात्र नहीं, बल्कि ऐसा लोक विज्ञान और कला है, जिससे एक संस्कृति का सृजन होता है। इसीलिए हमारे सांस्कृतिक विधानों में तालाब, कुंआ, नदी आदि को बार-बार स्मरण करने और उनसे जीवंत रिश्ता स्थापित करने की प्रक्रिया और पद्धति समाहित है। जन्म, विवाह और मृत्यु के सारे विधि-विधानों में तालाब, कुंआ और नदी का स्पर्श, स्मरण और पूजन किया जाता है। और ऐसा सभी संस्कृतियों में होता है।

तालाब हमारे जेहन, जीविका और जज्बात से जुड़े हैं। वे सारे पुराने तालाब आज भी जीवंत और उपयोगी हैं जिन्हें हमारे पुरखों ने बनवाया था। आज के तालाब सूखे रहते हैं। खासकर सरकारी तालाब। उन तालाबों को सरकार और उसके ठीकेदार सूखे मन से बनाते हैं। सूखे मन से बने तालाबों में पानी कैसे रह सकता है!

तालाब एक ऐसा जल कुंभ है जो विभिन्न प्रकार के जीवों का निर्माण करता है और इन जीवों का सीधा संबंध हमारी संस्कृति, हमारी जीविका और जज्बात से है। इसलिए हमारे पूर्वजों ने तालाब के निर्माण, संरक्षण और संवर्द्धन के विभिन्न उपाय किये थे। उसकी साफ-सफाई और समय-समय पर उसकी उड़ाही पर विशेष ध्यान दिया था। समुदाय स्वशासन से स्वानुशासन को बढ़ावा मिलता था। इसलिए अधिकांश पुराने तालाब आज भी जीवित और जीवंत हैं।

साभार - जलवायु संकट : देशज समाधान

झारखंड के लीजेंड्स : सिमोन उरांव

'विकास चाहते हो तो खेतों में लड़ो और
विनाश चाहते हो तो आदमी से लड़ो

उक्त कथन है सिमोन बाबा का जिनसे हम सभी परिचित हैं। वे झारखंड के 'जलपुरुष' के रूप में प्रसिद्ध है। इनका जन्म रांची से लगभग 35 किलोमीटर दूर, बेड़ो प्रखंड के खक्सी टोला में हुआ था। खक्सी टोला बेड़ो के मुख्य रोड से दस से पन्द्रह किलोमीटर की दूरी पर है। यह गांव छोटे- छोटे वन और पहाड़ियों से घिरा हुआ है। गांव तक पहुंचने के लिए पथरीली सड़क छोड़कर दायीं तरफ जहां से चढ़ाई शुरू होती है वहां कुछ चट्टानें, जंगली झाड़ और हरिया घास की झाड़ियों के बीच अंटी -धंसी पगडंडी है। यह जगह आज भी अपने अपार सौंदर्य का धनी है। इनकी माता का नाम बंदनी उरांव और पिता का नाम बेरा उरांव था। उनके दो भाई और तीन बहनें थीं। एक भाई की मृत्यु हो चुकी है। उनकी पत्नी राशन वितरण का काम करती हैं। सिमोन उरांव की पत्नी का नाम बिरजिनिया मिंज है। इनके तीन बेटे और चार बेटियां हैं, जिनमें से एक बेटा और एक बेटी की मृत्यु हो चुकी है। बाबा की शिक्षा गांव के स्कूल से ही आठवीं कक्षा तक हुई।

उनका समय हमेशा खेत - खलिहानों में ही बीता है। 1960 के दशक में उन्होंने सूखे के खिलाफ लड़ाई शुरू की और झारखंड के गांवों में जल संरक्षण और सुधार के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दिखाई है। इसके लिए उन्होंने अपने गांव में एक चेकडैम का निर्माण साथी ग्रामीणों के सहयोग से किया। उसमें उन्हें किसी भी तरह की सरकारी मदद नहीं मिली। उनके कार्यों के फलस्वरूप बेड़ो के आस- पास के गांवों में जल संचयन के साधनों का निर्माण हुआ जिससे गांवों में पानी की उपलब्धता में सुधार हुआ है। उन्होंने अपने प्रयास से पारंपरिक जलस्रोतों को पुनर्जीवित किया और कई नये जलस्रोतों का निर्माण किया। जलस्रोतों के निर्माण के लिए लोगों को जमीन देने के लिए प्रेरित किया और खुद की जमीन भी दान कर दी। पांच जलाशयों के निर्माण के साथ - साथ एक पर्यावरण परियोजना के पीछे उनके प्रयासों को भी देखा जा सकता है। जिसमें 51 गांवों को कवर करते हुए रांची के पास बेड़ो ब्लाक में बड़े पैमाने पर वृक्षारोपन, कुंओं और तालाबों की खुदाई शामिल है। तालाब खोदकर नहर बनवाए। जंगल के बीच से भी नाला बनाए और उससे खेती अब भी कर रहे हैं। वे तालाबों के किनारे पर अमरूद, आम, और कटहल के पेड़ लगाए हैं। सिमोन बाबा की मां जब भी उनके लिए खाना लेकर खेतों जाती थीं तो वह केवल भात और सींक लेकर जाती थीं, उनका कहना था कि हम रोज नई थाली में खाना खाते हैं। वह जंगल से सखुआ पत्ते से पत्तल बनाकर उसमें खाना देती थी।

1964 में ग्रामीणों ने उन्हें 12 पड़हा का राजा चुना। इसका मतलब 51 गांवों की देखभाल की जिम्मेदारी उन पर है। मदैइत की व्यवस्था के तहत वे हंड़िया और दारू के चलन को खत्म कर उसकी जगह खाना और चाय देकर नशाबंदी को बढ़ावा दिया। वे 27 बार दुर्घटनाओं से बचे हैं। एक बार बड़े चेकडैम के पास की मेड़ टूट गयी थी और पानी जोरों से खेतों में बहने लगा। उस समय पास के खेतों में धान लगा हुआ था। धान खराब न हो इसके लिए वे मेड़ पर सो गये, पर पानी की तेज धारा में बहकर वे किसी खोह (लतरा) में फंस गये थे। वे लगातार 3-4 घंटे तक उसी में फंसे रहे। उसके बाद गांव वालों की मदद से उन्हे बाहर निकाला गया। सिमोन उरांव अपने घर और खेतों के आस - पास भी औषधीय पौधे लगाए हैं, जिससे वह बहुत सारे रोगियों का उसी पौधे की दवा बनाकर इलाज भी करते हैं।

समाज में उनके योगदान के लिए भारत सरकार ने उन्हें 12 अप्रैल 2016 को देश के चौथे सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'पद्मश्री' से सम्मानित किया। उन्हें अमेरिकन मेडल ऑफ ऑनर लिमिटेड स्टारकिंग पुरस्कार के लिए चुना गया। उन्हें झारखंड सरकार की तरफ से सम्मानित भी किया गया। वर्त्तमान समय में वे पैरालाइसिस अटैक के कारण थोड़े शिथिल हो गए हैं, नहीं तो वे घर में कभी नहीं रहते। स्वस्थ रहने पर वे हमेशा खेतों में और सामाजिक क्रिया-कलापों में लगे रहते हैं।

- शशि बारला

सहयोग - संजय समीर एक्का, अमित कुमार एवं बेरोनिका एक्का

पद्मश्री सिमोन उरांव : बरसात के पानी को सहेजने का देशज वैज्ञानिक

झारखंड के रांची जिले का प्रखंड है बेड़ो। बेड़ो प्रखंड का ही एक गांव है खक्सी टोली। खक्सी टोली मूलतः उरांव कैथोलिक आदिवासियों का गांव है जहां की अधिकांश जनसंख्या आज भी खेती पर आश्रित है। आज जब झारखंड भयंकर सूखे की चपेट में है, तब बेड़ो प्रखंड के कुछ गांवों में फसल लहलहा रहे हैं। आप सब सोचते होंगे यह कैसे संभव है? हां! यह संभव हो पाया है एक दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्तित्व के कारण जिन्होंने अपना पूरा जीवन जल संचयन एवं उनके साधनों के निर्माण पर लगा दिया। गांव-गांव घूम कर जल संरक्षण के लिए जागरूकता अभियान चलाया, जल संचयन के तरीके को प्रमोट किया एवं साधनों का निर्माण किया। लोगों को पानी कम बर्बाद करने की नसीहत दी। जी हां! यहां बात हो रही है पद्मश्री सिमोन उरांव की, जिन्होंने 1960 के दशक में सूखे के खिलाफ लड़ाई शुरू की। अपने कुछ साथियों एवं ग्रामीणों की सहायता से समीप की पहाड़ियों की तलहटी में सबसे पहला जलाशय हरिहरपुर जामटोली में बनाया। यह जलाशय लगभग 40 एकड़ जमीन में फैला हुआ है। आज इस बांध के पानी से जामटोली, बेरटोली, खक्सी टोली, हरहंजी, खुरहा टोली आदि गांव के ग्रामीण धान की फसल के साथ-साथ सब्जियों की खेती एवं अन्य फसल उगा रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि इस क्षेत्र में पलायन रुक गया है। सिमोन बाबा बताते हैं यह सब हमने अपने श्रम से किया है, दोस्तों की सहायता से किया है। हमें बांध बनाने के लिए कोई सरकारी मदद नहीं मिली। इसके लिए पहले मैंने अपनी जमीन दी एवं लोगों को भी जमीन दान देने के लिए प्रेरित किया। हमलोगों ने नियम बनाया था कि हफ्ता में एक दिन सब श्रमदान करेंगे। जामटोली के लुइस एक्का, जिनकी भी जमीन इस बांध बनने में गई है, उन्होंने बताया कि बांध बनने में जिनकी जमीन गयी है वे इसमें मछली पालन करते हैं। लगभग 25 परिवार की टांड़ वाली जमीन एवं बाकी गैरमजरूआ जमीन पर यह बांध बना है। इसके अलावा भी बाबा ने अपने प्रयास से 5 चेक डैम, 8 पोखर एवं 20 कुंआ एवं दर्जनों डोभा खुदवाया है। 9 कुआँ तो उन्होंने स्वयं अपने हाथों से खोदे हैं। पहले मछली पालन के प्रबंधन की जिम्मेवारी ग्रामसभा करती थी परंतु अब जिसकी जमीन गयी है वे लोग कर रहे हैं। लेकिन साल में दो बार हर घर में मछली देते हैं। बाबा ने केवल नये जल स्रोतों का निर्माण ही नहीं किया बल्कि अपने प्रयासों से पुराने पारंपरिक जलस्रोतों को पुनर्जीवित भी किया। इस क्षेत्र में एक व्यक्ति के प्रयास ने वह कर दिखाया है जो कि सरकार की लाखों करोड़ों की जल छाजन योजना भी नहीं कर पायी।

खक्सीटोली की ग्रेस ओराइन ने बताया कि बाबा ने एक डैम अपने गांव खक्सीटोली में भी बनाया है जो लगभग 12 हेक्टेयर में फैला है। डैम में सालो भर पानी रहता है। डैम से खेतों तक पानी ले जाने के लिए एक तरफ लगभग 5500 फुट तथा दूसरी तरफ लगभग 4500 फुट का नाला बनवाया। इस बार डैम में पानी कम होने के कारण लोग पंप लगाकर अपने खेतों का पटवन कर रहे हैं। डैम से सटे कुंआ में भी बहुत पानी है। परन्तु बारिश की यही स्थिति रही तो डैम इस बार सूख जा सकता है।

मिट्टी के कटाव और जल की कमी को रोकने के लिए बाबा ने अपनी पैतृक भूमि में सामाजिक वानिकी की शुरूआत की। उनकी पत्नी बिरजनिया मिंज ने बताया कि हुटार जंगल से दो बोरा सखुआ के बीज ला कर हमने छींटा था जो आज जंगल का रूप ले चुका है। इसके अलावा हर साल हजारों पौधे लगाते हैं। ये जहां भी जाते हैं वहां से पौधा लाकर जरूर लगाते हैं। वर्तमान में वे जहां रह रहे हैं वहां तरह-तरह के फलदार वृक्ष एवं औषधीय पौधे इसकी गवाही दे रहे हैं। तालाबों एवं बांधों के मेढ़ पर आम, जामुन, अमरूद, लिची जैसे फलदार वृक्ष लगाये गये हैं, जो फल देने के साथ साथ मिट्टी क्षरण भी रोकता है। वनों की देखभाल एवं प्रबंधन के लिए हर गांवों में 25 सदस्यीय ग्राम वन समिति का गठन किया गया है। यह समिति ग्रामसभा की निगरानी में कार्य करता है। इनका कार्य जंगल की रक्षा करना है। यह समिति पेड़ों की अवैध कटाई को रोकता भी है और नये पेड़ों को लगाता भी है।

ग्रामीण विमल टोप्पो एवं हेमकांत समीर टोप्पो बताते हैं कि बाबा के मार्गदर्शन के कारण ही यह समिति आज तक अपना कार्य सफलतापूर्वक कर रही है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय की एक छात्रा ने इनके कार्य और लगन से प्रभावित होकर अपनी डॉक्टरेट की उपाधि के लिए ‘‘हाउ टू प्रैक्टिकली कंजर्व फोरेस्ट इन झारखंड’’ शीर्षक पर शोध किया। परंतु सरकार ने सड़क चौड़ीकरण एवं सुंदरीकरण के बहाने बहुत सारे पेड़ों को काट दिया जिससे बाबा व्यथित हैं।

बाबा अपने कार्य क्षेत्र के गाँव में नशापान के खिलाफ़ लोगों को जागरूक करते रहे हैं। उन्होंने मदइत प्रथा में हड़िया दारू बंद किया एवं उसके बदले चाय एवं खाना की व्यवस्था करने का नियम बनाया। वे जड़ी-बूटी के जानकार भी हैं। अपने इलाज से सैकड़ों लोगों को ठीक कर चुके हैं।

उन्हें पद्म श्री सम्मान मिलना पूरे झारखंड के लिये गौरव की बात है। इसके अलावा भी बाबा को उनके कार्य के लिये विभिन्न सामाजिक संगठनों एवं संस्थानों द्वारा दर्जनों सम्मान से उन्हें सम्मानित किया गया है।

पद्मश्री सिमोन बाबा बड़े बांधों के खिलाफ हैं। उनका मानना है कि छोटे-छोटे बांध और तालाब ही किसानों के लिए लाभप्रद हैं। इससे लोगों का विस्थापन नहीं होता है और पर्यावरण की क्षति भी नहीं होती है। इनके प्रयासों से प्रेरित होकर अन्य लोग भी जल संरक्षण के महत्व को समझकर इस दिशा में कदम उठा रहे हैं। जरूरत है एक बड़ी मुहिम चलाने की जिससे झारखंड के लोगों का आर्थिक विकास हो और साथ ही प्राकृतिक संसाधन जल, जंगल, जमीन एवं पर्यावरण का संरक्षण सवंर्द्धन हो सके।

- श्रावणी

सहयोग - संजय समीर एक्का, अमित कुमार एवं बेरोनिका एक्का

युद्धक हथियारों की दुनिया, पर्यावरण विमर्श और आदिवासी समाज

वैश्वीकरण की दुनिया में आज दो विपरीत चीजें एक साथ चल रही हैं – हथियारों की होड़ और पर्यावरण विमर्श । एक ओर राष्ट्रीय सुरक्षा और आतंकवाद के नाम पर हथियारों की खरीद-फरोख्त को वैधता प्रदान किया जा रहा है तो दूसरी ओर ग्लोबल वार्मिंग से निपटने के उपाय खंगाले जा रहे हैं, इसके लिए पृथ्वी सम्मलेन, कोपेनेहगेन सम्मलेन आदि आयोजित किये जा रहे हैं। ग्लोबलाइजेशन ने 'ग्लोबल' होने का जो सिद्धांत दिया उसने ग्लोबल वार्मिंग की समस्या को भी पैदा किया। यह पूँजीवाद द्वारा उत्पादित समस्या का ही जटिलतम विस्तार है। ग्लोबलाइजेशन पूँजीवाद का ही आक्रामक संस्करण है। इस दौर में 'ग्लोबल' होने का अंतिम माध्यम 'बाजार' को ही घोषित किया गया। उपभोग की वस्तुओं के अतिरिक्त बाजार ने हथियारों की होड़ को पैदा किया। अंतर-राष्ट्रीय बाजार में हथियारों की होड़ ने खनन और जंगलों की कटाई (डी-फोरेस्टेशन) को और बढ़ावा दिया। अब बाजार में प्रतिस्पर्धा परंपरागत हथियारों की नहीं है बल्कि अब नाभिकीय और रासायनिक हथियारों की प्रतिस्पर्धा है। नाभिकीय और रासायनिक हथियारों के निर्माण के लिए जिन दुर्लभ खनिजों एवं धातुओं की जरूरत होती है उनके खनन ने पारिस्थितिकी पर बहुत बुरा प्रभाव डाला है। यूरेनियम, बक्साईट आदि खनिजों की बढ़ती माँग का संबंध हथियारों की होड़ से है। इनका इस्तेमाल युद्ध सामग्रियां बनाने में बड़े पैमाने पर किया जाता है। जैसे-जैसे शस्त्र उद्योग फैलता जा रहा है वैसे वैसे पर्यावरण का नाश होता जा रहा है। फेलिक्स पैडल ने 'आउट ऑफ़ दिस अर्थ' पुस्तक में इसके बारे में संकेत किया है। इस तरह के उद्योग अपनी वैधता 'सुरक्षा' के नाम पर सुनिश्चित कर लेते हैं। सरकारें राष्ट्रवाद जैसे भावनात्मक मुद्दों से जोड़ कर इसका नैरेटिव तैयार करते हैं। ऐसे में इन उद्योगों से संबंधित खनन आदि परियोजनाओं के लिए न केवल पर्यावरण संबंधी मानकों में ढील दी जाती है बल्कि स्थानीय आदिवासी समुदायों के संवैधानिक और मानव अधिकारों का भी हनन किया जाता है। दुनिया भर में आदिवासी समुदायों का विस्थापन बड़े पैमाने पर सामरिक परियोजनाओं के कारण भी हुआ है । सामरिक परियोजनाएँ आदिवासी जीवन संघर्ष को और भी जटिल बना देती हैं। इस तरह की परियोजनाओं का संबंध प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र की सुरक्षा से होता है ऐसे में स्वाभाविक रूप से छोटे सामाजिक समूहों के संवैधानिक अधिकार गौण हो जाते हैं। इस तरह पर्यावरण संकट के गहरे राजनीतिक-कूटनीतिक निहितार्थ हैं।

राजनीतिक-कूटनीतिक निहितार्थ को समझे बिना पर्यावरण के संकट को नहीं समझा जा सकता है क्योंकि पर्यावरण संकट मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की मंशाओं और साजिशों से मुक्त नहीं है बल्कि यह उसी का परिणाम है। पर्यावरण संकट के साथ-साथ स्थानीय आदिवासी-मूलवासी समुदायों का अस्तित्व संकट भी स्वाभाविक रूप से आ खड़ा हुआ है। पर्यावरण संकट और आदिवासी अस्तित्व का संकट अन्योन्याश्रित हैं, इसे अलग कर नहीं समझा जा सकता है। इसलिए मौजूदा समय में पर्यावरण संकट को लेकर जो चिंता जाहिर की जा रही है उसमें स्थानीय आदिवासी - मूलवासी समुदायों के संवैधानिक एवं मानवाधिकारों को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाना चाहिए। यानी हाथियारों की होड़, पर्यावरण संकट, और आदिवासी अस्तित्व संकट के सूत्र एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। ऐसे में सवाल खड़ा होता है कि क्या महज मध्यवर्गीय बौद्धिक संवेदनाओं के द्वारा पर्यावरण संकट का समाधान किया जा सकता है? या, इस संकट से नाभिनालबद्ध रूप से जुड़े आदिवासी अस्तित्व संकट पर भी विचार किया जाना चाहिए? निस्संदेह आदिवासी अस्तित्व संकट पर विचार किये पर्यावरण संकट का स्थायी समाधान नहीं किया जा सकता है। इसे आदिवासी समुदायों के जीवन दर्शन से समझने का प्रयास करते हैं।

दूसरे महायुद्ध के दौरान अमेरिका ने जापान के दो शहरों हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराया। परमाणु बम के हमले से जो तबाही हुई उसमें मानवीय त्रासदी के अलावा वहाँ की पारिस्थितिकी भी बहुत बुरी तरह से प्रभावित हुई। रेडियो एक्टिव विकिरण ने मानव सहित मानवेतर जीवों का संहार किया। मानव सभ्यता में पहली बार इतने विध्वंसक हथियार का प्रयोग किया गया था। इस घटना ने भले ही जापानी तानाशाही को रोका लेकिन यह मानवता के विरुद्ध कार्रवाई थी। हमले के इतने दशकों बाद भी अमेरिका ने इस घटना के लिए कभी खेद नहीं जताया, माफ़ी की बात तो दूर। लेकिन इस घटना से आदिवासी

समुदाय बहुत आहत हुआ। अमेरिका के आदिवासी (native) समुदायों ने इस घटना का न केवल प्रतिकार किया बल्कि उनके प्रतिनिधियों ने जापान आकर उनसे माफ़ी मांगी। उन्होंने कहा कि उनके देश की सरकार द्वारा की गयी इस कार्रवाई से वे सहमत नहीं हैं। चूँकि इस हमले में जिस परमाणु बम का इस्तेमाल किया गया था उसके निर्माण के लिए उनकी ही जमीन से यूरेनियम निकाला गया था। इस कार्रवाई के निर्णय में उनकी भागीदारी नहीं है और वे इस घटना के लिए शर्मिन्दा हैं। विशेषज्ञों के अनुसार 'मैनहट्टन प्रोजेक्ट' के लिए यूरेनियम कांगो से निकाला जाना था। इसके अलावा अमेरिका ने अपने ही देश में यूरेनियम की खोज की जो उन्हें वहाँ के आदिवासी इलाकों में मिला। एरिजोना प्रान्त के नवाहो (Navajo) आदिवासी समुदायों और कनाडा के आदिवासी समुदायों के क्षेत्र में युरेनियम का खनन किया गया।

इतिहास में शायद ही यह उल्लेखित है कि आदिवासी समुदायों ने परमाणु बम हमले की निन्दा की, उसके लिए माफ़ी मांगी। जिस दौर में परमाणु ऊर्जा और हथियार को लेकर प्रतिस्पर्धा बढ़ी जा रही थी, जिसमें भारत भी शामिल था, उसी दौर में झारखण्ड के जादूगोड़ा में यूरेनियम खनन से प्रभावित आदिवासी समुदायों के संघर्ष पर प्रसिद्ध फ़िल्मकार श्री प्रकाश ने 'बुद्धा वीप्स इन जादूगोड़ा' नामक वृत्तचित्र फिल्म का निर्माण किया था। इस फिल्म में उन्होंने आदिवासी समुदायों के जीवन पर यूरेनियम के खनन और उसके विकिरण के दुष्प्रभावों का अध्ययन प्रस्तुत किया था। 2001 ई. में जापान के फिल्म फेस्टिवल में इस फिल्म को अवार्ड मिला। इसी प्रक्रिया में उनका विश्व आदिवासी समुदायों के साथ 'एंटी न्यूक्लियर मूवमेंट' से जुड़ाव हुआ। इस तरह श्री प्रकाश ने इस ऐतिहासिक तथ्य को सामने उजागर किया। इसी तथ्य को बाद में हिन्दी की महत्वपूर्ण लेखिका महुआ माजी ने अपने उपन्यास 'मारंगगोड़ा नीलकंठ हुआ' में शामिल किया। अमेरिका ने परमाणु हमले के लिए कभी माफ़ी नहीं मांगी लेकिन वहाँ के आदिवासी समुदायों ने माफ़ी माँगी। जापान पर किये गये परमाणु हमले की यह दो भिन्न प्रतिक्रिया दो जीवन दर्शनों की अभिव्यक्ति है – एक वर्चस्ववादी, दूसरा सहजीवी। मौजूदा पर्यावरण संकट का संबंध मूलत: वर्चस्ववादी जीवन दर्शन से है। इस दर्शन ने न केवल मनुष्य को प्रकृति में श्रेष्ठ घोषित किया बल्कि इसने मनुष्यों के भीतर भी स्तरों का गठन किया, कुछ जाति, नस्ल, कुल और पद प्रतिष्ठा से उच्च हुए और कुछ उसी आधार पर निम्न माने गये। लेकिन सहजीवी जीवन दर्शन ने मनुष्य को प्रकृति में श्रेष्ठ जीव नहीं माना बल्कि उसका 'तंतु मात्र' माना। प्रकृति के साथ उसने सहजीवी रिश्ता बनाया। अपने भीतर सहजीविता के मूल्य को विकसित करने का संघर्ष किया। आदिवासियों की जल, जंगल जमीन की लड़ाई का दार्शनिक पहलू भी यही है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यदि हम पर्यावरण संकट को देखें तो हम पाते हैं कि इसके राजनीतिक-कूटनीतिक निहितार्थ हैं। अर्थात् पर्यावरण संकट को आदिवासी समुदायों के अस्तित्व संकट, हथियारों की प्रतिस्पर्धा, परमाणु प्रसार आदि संदर्भों से काट कर समझा नहीं जा सकता है। पर्यावरण के संकट का सीधा आशय आदिवासी समुदायों के अस्तित्व संकट से है। खनन आदि परियोजनाओं से पर्यावरण का नुकसान होता ही है लेकिन उसके साथ ही वहाँ मौजूद आदिवासी समुदाय का अस्तित्व संकटग्रस्त हो जाता है। अपने अस्तित्व के लिए आदिवासी समुदाय लम्बे समय से संघर्ष कर रहे हैं। वर्तमान पर्यावरण संकट तो पूँजीवादी विनाशलीला की उपज है। जैसे-जैसे पूँजीवाद मजबूत होता गया पर्यावरण का संकट बढ़ता गया और उसकी प्रतिक्रिया में कथित सभ्य समाज पर्यावरण की चिंता कर रहा है। मोटे तौर पर कहा जाये तो कथित सभ्य विश्व समुदाय दो महायुद्धों के पश्चात् पर्यावरण संकट की चिंता कर रहा है जबकि आदिवासी समुदाय और प्रकृति का रिश्ता अनादि काल से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है, अनादि काल से वे प्रकृति की रक्षा करते आ रहे हैं। अमेरिकी नेटिव रेड इंडियंस इसके उदाहरण हैं। भारत के आदिवासी समुदाय इसके उदाहरण हैं। अपने जल, जंगल, जमीन की रक्षा के एवज में ही 18-19 वीं सदी में औपनिवेशिक शक्तियों ने उनका कत्लेआम किया। 18-19 वीं सदी में जंगल, जमीन और उससे जुड़े संसाधनों पर नियंत्रण के लिए ही औपनिवेशिक शक्तियों ने आदिवासी समुदायों का अंतहीन शोषण किया। यह शोषण प्रत्यक्ष तौर पर औपनिवेशिक कानूनों के द्वारा संभव किया गया, कहीं-कहीं तो इस कानून की भी जरूरत महसूस नहीं की गयी क्योंकि कथित सभ्य समाज ने

आदिवासियों को मनुष्य होने का दर्जा ही नहीं दिया। आज जबकि विश्व समुदाय के पास मानवाधिकारों का घोषणापत्र है, दुनिया की सरकारें पहले की तुलना में लोकतांत्रिक हो रही हैं इसके बावजूद आदिवासी अस्तित्व का संकट तेजी से बढ़ा है। इसकी वजह क्या है? इसकी एकमात्र वजह कथित विकास परियोजनाओं का होना है जिसका मॉडल औपनिवेशिक है, जिसका मूल्य पूँजीवादी है और स्वभाव वर्चस्ववादी। अर्थात् आदिवासी समुदाय की पर्यावरण चेतना आदिम है और जैविक है। यह उनकी जीवन शैली, संस्कृति और दर्शन का हिस्सा है। यह जीवन शैली और दर्शन अमेरिकी आदिवासी समुदायों सहित दुनिया भर के आदिवासी समुदायों में देखी जा सकती है। भारत के आदिवासी समुदायों की वाचिक परंपरा में यह बड़े पैमाने पर अभिव्यक्त हुआ है। झारखण्ड के मुण्डा आदिवासियों की गाथा 'सोसोबोंगा' में उक्त दर्शन और विचार को देखा जा सकता है। अर्थात् प्रकृति और आदिवासी समाज नाभिनालबद्ध हैं। एक पर होने वाले हमले का असर दूसरे पर स्वाभाविक रूप से पड़ेगा।

हमें इस बात को समझना पड़ेगा कि अगर आमेजन जंगल के आदिवासी अपने मानव अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं तो उसका संबंध अनिवार्य रूप से पर्यावरण से जुड़ा हुआ है। यदि नर्मदा नदी घाटियों में आदिवासी आन्दोलन कर रहे हैं तो उसका अनिवार्य संबंध पर्यावरण से है। यदि कोयलकारो (झारखण्ड), नेतरहाट (झारखण्ड), हसदेव अरण्य (छत्तीसगढ़) और नियमगिरि (उड़ीसा) के लिए आदिवासी समुदाय संघर्ष कर रहे हैं तो उसका अनिवार्य संबंध पर्यावरण से है। आदिवासी जन आन्दोलनों का प्रत्यक्ष संबंध पर्यावरण से जुड़ा है। हर आदिवासी समुदाय पर्यावरण संबंधी अपनी जैविक चेतना के कारण ही वह जल, जंगल, जमीन की लड़ाई लड़ता है न कि संकीर्ण राजनैतिक प्रेरणा से। लेकिन क्या मौजूदा विश्व परिदृश्य में पर्यावरण संकट की बात करने वाले आदिवासी अस्तित्व संकट के सवालों को देख पा रहे हैं? क्या वे आदिवासी सवालों को अपने पर्यावरण विमर्श के साथ लेने के लिए तैयार हैं? दुर्भाग्य की बात तो यह है कि हमारे देश के सुप्रीम कोर्ट ने वर्ष 2019 ई. में अपने एक फैसले में करीब 19 लाख आदिवासियों को जंगलों से बाहर निकालने का आदेश जारी किया था। सेवानिवृत्त वन अधिकारियों और वाइल्डलाइफ से जुड़े संगठनों ने परंपरागत रूप से सदियों से रह रहे आदिवासी समुदायों के विरुद्ध मुकदमा दायर किया था। इन संगठनों का दावा था कि आदिवासी समुदाय वन्य जीवों और पारिस्थितिकी के लिए खतरा हैं। ये ऐसे संगठन हैं जो कथित तौर पर पर्यावरण संकट की चिंता करते हैं लेकिन पर्यावरण के जनपक्षीय संदर्भ को नकारते हैं। वे इस बात से सहमत नहीं हैं कि आदिवासियों ने ही सदियों से जल, जंगल, जमीन की रक्षा की है। ये संगठन पर्यावरण संकट की बात तो करते हैं लेकिन पर्यावरण के लिए कुर्बानी देने वाले समुदायों को ही पर्यावरण का शत्रु मानते हैं। ये संगठन पर्यावरण और मनुष्य के रिश्ते के वर्चस्ववादी दर्शन के पालक हैं, जो यह समझने की कोशिश नहीं करते कि प्रकृति के बीच मनुष्य संपूर्ण पारिस्थितिकी के साथ सहजीवी बन कर रह सकता है। वे मनुष्य की बसाहट को एक कोने में धकेलते हैं और पर्यावरण को दूसरे कोने में। ये पर्यावरण और प्रकृति को बालकोनी में देखने के हिमायती हैं, या फिर इनके लिए प्रकृति पिकनिक स्पॉट है। प्रकृति के बीच में सहजीवी की तरह रहना इनके जीवन दर्शन में ही नहीं है। इस तरह पर्यावरण विमर्श के दो पक्ष दिखाई देते हैं – एक शहरी मध्यवर्गीय पूँजीवादी मूल्य से प्रेरित, जो पर्यावरण को दृश्य की तरह देखते हैं, जो प्रकृति पर वर्चस्व कायम कर उसकी चिंता करते हैं। दूसरा, आदिवासी समुदायों का पक्ष है जिन्हें असभ्य और जंगली कहा गया, ये प्रकृति को अपना सहजीवी मानते हैं। यह पर्यावरण विमर्श का जन-पक्ष है। पर्यावरण की वास्तविक सुरक्षा इसके जनपक्षीय विमर्श से ही संभव है। पर्यावरण का जनपक्षीय विमर्श पर्यावरण की भी चिंता करेगा और उसके साथ सहजीवी संबंध बनाने वाले समुदायों के अस्तित्व की भी चिंता करेगा। कथित पढ़े लिखे, अकादमिक सभ्य समाज को इसे समझना बहुत जरूरी है । दुखद यह है कि पर्यावरण दिवस हो, या पृथ्वी दिवस या फिर कोई पर्यावरणीय सम्मलेन कहीं पर भी पर्यावरण का जनपक्षीय स्वरूप मौजूद नहीं है।

उपरोक्त संदर्भों में ही इस बात को रेखांकित किया जाना चाहिए कि 'परमाणु अप्रसार आन्दोलन' आदिवासी समुदायों से सीख लेते हुए ही अब यूरेनियम के किसी भी प्रकार के प्रयोग को रोकने की बात करता है। इसमें आदिवासी समुदायों के संघर्ष की बड़ी भूमिका है। यूरेनियम का ऊर्जा के रूप में प्रयोग या अणु बम के रूप में प्रयोग हो, यह आदिवासी समाज और पर्यावरण दोनों के लिए अहितकारी है। केवल परमाणु बम से ही पारिस्थितिकी को खतरा नहीं है बल्कि यूरेनियम के खनन मात्र से पारिस्थितिकी को खतरा है। अगर हम वास्तविक अर्थों में पर्यावरण की चिंता करते हैं तो हमें बाजार में हथियारों की प्रतिस्पर्धा और आदिवासी समुदायों के अस्तित्व संकट के विरुद्ध साथ होना होगा। जन-निरपेक्ष होकर पर्यावरण विमर्श अर्थहीन है।

- अनुज लुगुन

पता : सहायक प्रोफेसर, दक्षिण बिहार,
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया पोस्ट : फतेहपुर,
जिला : गया, NH 120, पिन : 824236

122 साल बाद अगस्त सबसे सूखा और गर्म महीना

देश भर में अगस्त 2023 करीब 122 साल बाद सबसे सूखा और गर्म महीना रहा। इस महीने सामान्य की तुलना में 36% कम बारिश हुई। मौसम विभाग के मुताबिक, साल 1901 में इससे कम बारिश हुई थी। अगस्त की सामान्य बारिश 254.9 मिमी है, लेकिन इस बार केवल 161.7 मिमी ही बारिश हुई।

भारत में अभी तक सबसे सूखा अगस्त महीना 2005 का रहा था, उस समय केवल 191.2 मिमी बारिश हुई थी। यह सामान्य से 25% कम थी। इस साल अगस्त में कम बारिश होने का नतीजा यह है कि मानसून सीजन के 3 महीने बीतने पर भी बारिश सामान्य से 10% कम है। जबकि जुलाई खत्म होने पर सीजन की बारिश 5% ज्यादा थी।

वहीं, IMD के मुताबिक, सितंबर में बारिश सामान्य रहने के आसार हैं। अगस्त से बेहतर स्थिति देखने को मिल सकती है। IMD के महानिदेशक डॉ. मृत्युंजय महापात्र ने बताया कि बारिश का सामान्य आंकड़ा निचले स्तर पर ही रहने की आशंका है। ऐसा इसलिए क्योंकि सितंबर में मानसून के समाप्त होने तक अल-नीनो हावी रहेगा।

उन्होंने बताया कि सितंबर में देशभर में तापमान भी सामान्य से अधिक रहने के आसार हैं। हालांकि, मानसूनी सीजन के दौरान तापमान के बारे में सटीक पूर्वानुमान नहीं दिया जा सकता है। उन्होंने सितंबर में मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और छत्तीसगढ़ में बारिश सामान्य से कम होने की आशंका जताई है।

अगस्त 23 ब्रेक डे वाला महीना भी रहा

महापात्र ने बताया कि अगस्त मानसून के इतिहास में सबसे अधिक 23 ब्रेक डे वाला महीना भी रहा है। 6 से 17 अगस्त के बीच इस महीने का पहला मानसून ब्रेक था, फिर 21 व 22 अगस्त को दूसरा और तीसरा ब्रेक 26 से 31 अगस्त के बीच गुजरा।

इससे पहले 2005 में अगस्त महीने में 16 दिन का मानसून ब्रेक रहा था। 3 सबसे कम बारिश के रिकॉर्ड पिछले 4 साल के बीच के ही हैं।

अगस्त में 1 डिग्री ज्यादा था तापमान

महापात्र ने बताया कि इस साल अगस्त का अधिकतम तापमान 32.09 डिग्री सेल्सियस रहा, जो सामान्य से 1 डिग्री ज्यादा था। दिनभर का औसत तापमान भी 24.73 डिग्री सेल्सियस दर्ज हुआ, जो सामान्य से 0.72 डिग्री ज्यादा है। मानसूनी महीने में गर्मी की हालत यह रही कि इतिहास के पांच सबसे गर्म अगस्त बीते 15 सालों में रहे हैं। वहीं, IMD के विज्ञानी ओपी श्रीजिथ ने बताया कि 1901 से 2000 के बीच 100 सालों में अगस्त का तापमान सामान्य से 13 बार ज्यादा रहा है, लेकिन बीते 23 सालों में 20 साल सामान्य से ज्यादा तापमान दर्ज हुआ है।

अगस्त में बेहद कम बारिश की क्या वजहें हैं?

मौसम वैज्ञानिक अगस्त में कम बारिश के कुछ तात्कालिक कारण बताते हैं- मसलन बंगाल की खाड़ी में स्ट्रॉन्ग सिस्टम नहीं बना, मानसून ट्रफ लाइन का एक सिरा हिमालय की तराई में चला गया। इसके अलावा इस तरह के हालात के पीछे अल-नीनो का सक्रिय होना बताया जा रहा है।

जब-जब अलनीनो सक्रिय होता है, तब-तब भारत में मानसून कमजोर पड़ जाता है। इसकी वजह से देश के कई राज्यों में सूखा पड़ जाता है। पिछले 65 सालों में 14 बार अल-नीनो प्रशांत महासागर में सक्रिय हुआ है। इनमें 9 बार भारत में बड़े स्तर पर सूखा पड़ा। वहीं, 5 बार सूखा तो पड़ा लेकिन इसका असर हल्का रहा।

मेट्रोलॉजी एंड क्लाइमेट चेंज स्काईमेट के प्रेसिडेंट जी.पी. शर्मा ने इस बात की संभावना जताई है कि 2023 में 1991 जैसी परिस्थिति बन सकती है। दरअसल, सामान्य से अगर 10 फीसदी कम बारिश होती है तो मौसम विज्ञान की परिभाषा में उसे माइल्ड ड्राउट या मध्यम सूखा वर्ष कहते हैं।

अगस्त में बारिश बेहद कम होने से आम लोगों पर क्या असर पड़ेगा?

भारत में खेत, तालाब और जलस्रोतों को भरने के लिए जरूरी पानी का 70% बारिश से पूरा होता है। अगस्त में दक्षिण, पश्चिम और मध्य भारत में बेहद कम बारिश हुई है।

मानसून शुरू होने के बाद किसान धान, मक्का, सोयाबीन, गन्ना, मंगफली वगैरह की बुआई करते हैं। लंबे समय तक सूखे की वजह से मिट्टी में नमी नहीं बची, जिससे फसलों की ग्रोथ प्रभावित हुई है। एक्सपर्ट्स का कहना है कि फसलें बारिश के लिए लालायित हैं, इसमें जरा भी देर उत्पादन को घटा सकती है। जिसका नतीजा खाद्यान्न में महंगाई के रूप में देखने को मिलेगा।

- पर्यावरण डेस्क

वर्तमान ही नहीं भविष्य की सुरक्षा का भी आधार है जैविक खेती

70 से 90 के दशक में खेती में हुए नुकसान की वजह से किसानों को आत्महत्या करने की बात नहीं सुनी होगी। मगर आज पूरे देश में 30 से 40 हजार किसान प्रतिवर्ष आत्महत्या करने पर मजबूर हैं। हमें यह सोचना होगा कि बात आखिरकार कहां बिगड़ी? आज खेती करना घाटे का सौदा साबित हो गया है। खेती के जरिए किसान लागत भी नहीं निकाल पा रहा है। उदाहरणस्वरूप किसान यदि 130 रु. लगाकर खेती करता है और बीज, खाद और कीटनाशक खरीदने में हुए खर्च के बाद उसमें उसे मात्र 30 रु. प्राप्त होते हैं और वह भी 3 से 4 माह बाद, तो किसान क्यों खेती करे? खेती और आमदनी का अंतर लगातार बढ़ता ही जा रहा है। बिचौलिए व बाजार किसान का सारा फायदा गटक जा रहे हैं। रासायनिक खेती के दुष्परिणामों से दुनिया वाकिफ है।

देश में जैविक खेती या प्रकृति पर निर्भर खेती का इतिहास बहुत पुराना रहा है। हमारे पूर्वज इस तरह की खेती बरसों पहले कर चुके हैं। सन 1905-1924 तक अल्बर्ड हावर्ड तथा उनकी पत्नी गैब्रिएल हावर्ड ने मिलकर शोध किया तथा अपने सिद्धांतों को इन्होंने 1940 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'An Agricultural Treatment' में स्थान दिया था। इस विधि से खेती करने के तरीके में फसल कटने के पूर्व ही दूसरी फसल लगाने की तैयारी कर ली जाती है। इसके लिए वह फसल काटने के पूर्व ही फसल बॉल बना कर रख लेते हैं। इसके बाद खड़ी फसल के अवशेष को मृदा आच्छादान के तौर पर इस्तेमाल कर लेते हैं। इस विधि से कृषि करने पर कम पानी की सिंचाई में ही खेती हो जाती है। फसल में किसी प्रकार के रासायनिक खाद की जरूरत नहीं पड़ती। खरपतवार को मृदा आच्छादन (Mulching) के तौर पर भी इस्तेमाल कर लिया जाता है। देखा जाए तो प्रकृति में फसल उत्पादन के लिए प्राकृतिक रूप से व्यवस्था बना रखी है। जंगल में क्या कोई कीटनाशक डालता है? लेकिन क्या वहां पेड़ मर जाते हैं? धरती पर रहने वाले लाखों जीव जंतु खेती के लिए उपयुक्त वातावरण बनाते हैं। खाद, पानी, आक्सीजन, कीटनाशक आदि ये सारी चीजें प्रकृति में पूर्व से ही उपलब्ध हैं। आज हमें भूमि की उर्वरता बनाने के लिए प्रयास करना होगा। खेतों के सारे जीव-जंतु मर चुके हैं। जैविक खाद और कीटनाशक यथा - वर्मी कम्पोस्ट, जीवामृत, धन जीवामृत एवं दशपर्णी आदि किसान अपने घर पर ही बना सकते हैं। आज दिनों दिन पर्यावरण संकट बढ़ता जा रहा है। पर्यावरण संकट का मतलब सिर्फ कम वर्षा होना ही नहीं है, बल्कि असमय बारिश का होना, जरूरत से ज्यादा वर्षा का होना, बाढ़, सुखाड़, ग्लेशियर का पिघलना आदि सब कुछ हैं। देखा जाए तो आज की जरूरत जमीन को बंजर होने से बचाना है। मानव सभ्यता आगे भी चलती रहे, इसके लिए हमें अंततः जैविक खेती को अपनाना ही होगा। हमें यह सोचना होगा कि हम अंतिम पीढ़ी के लोग नहीं है। हमारे भी बच्चे हैं और उनका भविष्य भी। उनके भविष्य को बचाने की जिम्मेदारी हमारे ऊपर है।

- आनन्द मरांडी

“प्यासी धरती! बरसा के अभाव में मरते धान”

सूखे की स्थिति को दर्शाता यह गाँव - जरिया टांड़, प्रखण्ड-मधुपुर का है।

तस्वीर : जावेद इस्लाम